शिल्प और समाज

अजय तिवारी

शिल्प और समाज

अजय तिवारी

अजय तिवारी

जन्म: 6 मई 1955, इलाहाबाद।

मूलनिवास: ग्राम जगजीवन पट्टी, जौनपुर।

शिक्षा : हाईस्कूल इलाहाबाद, एम.ए, पी- एच. डी. दिल्ली विश्वविधालय, दिल्ली।

प्रकाशन : 'प्रगतिशील कविता के सौंदर्य - मूल्य', 'नागार्जुन की कविता', 'समकालीन कविता और कुलीनतावाद', 'साहित्य का वर्तमान', 'पश्चिम का काव्य-विचार', 'आलोचना और संस्कृति', 'राजनीति और संस्कृति', 'व्यवस्था का आत्मसंघर्ष', 'आधुनिकता पर पुनर्विचार', 'हिंदी कविता : आधी शताब्दी', 'जनवाद की समस्या और साहित्य' (आलोचना)।

संपादन : 'केदारनाथ अग्रवाल', 'कवि-मित्रों से दूर' (केदारनाथ अग्रवाल से बातचीत), 'आज के सवाल और मार्क्सवाद' (रामविलास शर्मा के संवाद), 'तुलसीदास: पुनर्मूल्यांकन', 'जन-इतिहास का नजरिया' (रामविलास शर्मा से बातचीत), 'रामविलास शर्मा संकलित निबंध'।

सम्मान : 'केशव-स्मृति सम्मान' (भिलाई, 1997), 'देवीशंकर अवस्थी सम्मान' (नयी दिल्ली, 2002), 'डॉ भगवतशरण उपाध्याय सम्मान' (बलिया, 2005)

शिल्प और समाज

समकालीनता और साहित्य की बहुवस्तुस्पर्शी परिधि में ऐसे अनेक मूलगामी मुद्दे और बहसें शामिल रही हैं जिन पर विगत पूरी शताब्दी में विचार किया जाता रहा है। समकालीनता को अक्सर जिस संकरे देशकाल में सीमित और परिभाषित कर देखा जाता रहा है, अजय तिवारी 'शिल्प और समाज' के आयतन में उसे एक अलग और कालव्यापी आयाम देते हैं। साहित्य स्वप्न और गति से लेकर लोकतंत्र, जनसमाज, साहित्य की समकालीनता व प्रयोजनीयता और साहित्य व बाजार के समय के साथ उन्होंने साहित्य के विराट और उदात्त को पहचानने का यत्न किया है। कविता सदैव एकबेहतर दुनिया का सपना देखती आई है, यह आलोचक की अस्त्रों से ओझल नहीं है। किंतु समग्रत: वह शिल्प और रचना के रिश्ते की तलाश के लिए अनुभव-अनुभूति- भाषा-रूप-वस्तु- अंतर्वस्तु-शैली और कला के पारस्परिक अंतर्सम्बन्धों की पड़ताल करता है। अजय तिवारी ने 'शिल्प और समाज' में यही किया है।

अजय तिवारी ने साहित्य में आगत अस्मितवादी विमर्शों और मुद्दों के आलोक में सौंदर्य और शिल्प के मापदंडों की विवेचना की है। उत्तर सोवियत विश्व में पूँजी और साम्राज्यवाद के प्रति खुले और बेझिझक समर्थन के इस दौर में उन्होंने युवा, दलित, स्त्री, लोक और अल्पसंख्यकों के प्रति साहित्य और कला रूपों में शिल्प और वस्तु के बनते व परिवर्तित होते स्वरूप की चर्चा की है। 'समकालीनता और साहित्य' तथा 'स्मृति में बसा राष्ट्र' दो खंडों में उपनिबद्ध इस पुस्तक की आंतरिक संरचना में एक ऐसी लय और संहति है जिससे गुजरते हुए न केवल हिंदी साहित्य की बल्कि एकध्रुवीय होते विश्व की आंतरिक जटिलताओं का परिचय भी मिल जाता है। अपने वैचारिक आग्रहों को न छुपाते हुए यहाँ तिवारी ने वाम आंदोलन में आती पस्ती के प्रति विक्षोम भी व्यक्ति किया है।

अजय तिवारी ऐसे आलोचकों में हैं जिन्होंने सत्ता प्रतिष्ठानों को मानवीय नियति का उद्धारक मानने के किसी भी संगठित-असंगठित प्रत्यनों के खिलाफ आवाज उठाई है और यह जताया है कि किसी भी समय में साहित्य ही सबसे बड़ी ताकत रहा है और आज भी वही सत्ता का अपरिहार्य प्रतिपक्ष है।

-ओम निश्चल

दहका खड़ा है सेमल का पुरनिया पेड़।

स्व. श्री चन्द्रबली सिंह के लिए।

अनुक्रम

स्मृति में बसा राष्ट्र

भूमिका	7
समकालीनता और साहित्य	
साहित्य का स्वप्न और गति	12
लोकमत-निर्माण और सामाजिक परिवर्तन	21
हिंदी समाज में गल्प	29
राजनीति से परहेज का साहित्य	37
साहित्य और लोकतंत्र	44
साहित्य और जनसमाज	48
साहित्य में प्रयोजन	52
समकालीनता और साहित्य	56
साहित्य का समय और बाजार का समय	65
शिल्प और समाज	77
रेत में शिल्प	85
युवामन, महानगर और कविता	93
साहित्य का विराट और उदात्त	96
समकालीन कविता : बेहतर दुनिया की तलाश	105
इकहरे सपनों के दिनों में कविता	116

स्मृति में बसा राष्ट्र

ऋग्वेद की संस्कृति और कविता	125
स्मृति में बसा राष्ट्र	131
जन्नत की हकीकत लेकिन...	136
विजयी विश्व धर्मध्वज प्यारा	148
भारतीय मुसलमान और सांप्रदायिक प्रश्न	161
बाजारवाद के दिनों में सन् सत्तावन की याद	172
सन् सत्तावन और अस्मितावादी नजरिया	181
आज का कथा-समय	190
पहाड़ जैसी सादगी	200
सहजता का कथा-शिल्प	205
चकाचौंध के भीतर	210
सकल करम करि थकेऊँ गोसाईं	214
इतिहास का औपन्यासिक विधान	222
हिंदी के अमर उपन्यास	234
हिंदी का स्वरूप और मूल स्वभाव	237
हिंदी की ताकत उसकी जनता है	242

भूमिका

साहित्य रूपों का आविर्भाव और अवसान ही नहीं, साहित्यिक कृतियों का शिल्प भी समाज और इतिहास की परिस्थितियों पर निर्भर होता है। काव्यशिल्प, कथाशिल्प, मूर्तिशिल्प जैसी पदावली कलात्मक अभिव्यक्ति में रूपरचना या स्थापत्य का महत्त्व स्पष्ट करती है। बेनेदेतो क्रोचे भी अभिव्यंजना के लिए अनुभूति को पर्याप्त मानते थे लेकिन वह अनुभूति कला तभी बनती थी, जब उसे भाषा मिल जाती थी, यानी शब्द, नाद, रंग, आकृति, भंगिमा या मुद्राओं का माध्यम। रूपविजित वस्तु ही कला बनती है। इसंलिए दोनों की परस्पर निर्भर सत्ता है। अनुभूति वस्तु है, जैसे जल। रूप शिल्प है, जैसे कुआँ, बावड़ी, नदी, नहर, तालाब, झरना। शिल्प वस्तु से निर्मित होता है, उसे नियंत्रित भी करता है।

एक ही वस्तु अलग-अलग शिल्प से विभिन्न अस्तित्व ग्रहण करती है। वही जल कुआँ, नदी, झरने का रूप लेता है; वही अनुभूति काव्य, संगीत, स्थापत्य का रूप लेती है। यह समझना भूल है कि वस्तु का जन्म शिल्प से होता है। पहाड़ को तोड़कर पानी ही झरने का रूप लेता है। जिस अनुभूति को भाषा नहीं मिलती, वह भी अस्तित्ववान है और अभिव्यंजना है। इसलिए शिल्प निष्क्रिय और गौण नहीं है, फिर भी निर्णायक महत्त्व अंतत: वस्तु का ही होता है। और, यह निर्विवाद है कि वस्तु का अटूट संबंध समाज और इतिहास से होता है।

आज इस बात पर जोर देना आवश्यक है क्योंकि पैकेजिंग, एडवर्टाइजिंग, प्रेजेंटेशन, जेस्वर वगैरह प्रदर्शन और आडम्बर के वातावरण में वस्तु का महत्त्व उपेक्षणीय और गौण हो जाता है, बचता है केवल शिल्प। हमारे पारंपरिक समाज में साथ-साथ रहते हुए जो लोग पूरा जीवन बिता देते थे, उन्हें कभी 'आई लव यू' कहते नहीं सुना गया। लेकिन अमरीकी जीवन-शैली में दिन भर 'आई लव यू-आई मिस यू' की माला जपनेवाले एक जीवन में पाँच-सात जोड़े बदल लेते हैं। वस्तु और अभिव्यक्ति के बीच काफी पेचीदा संबंध है। प्रदर्शन अक्सर भावहीनता का परिणाम होता है। रीतिवाद में भी 'हाव- भाव' होता था; बाजारवाद में 'हाव' रह गया है, 'भाव' केवल मोलभाव की चीज बन गया है।

पहले भी शिल्प और अनुभूति के परस्पर-संबंध को मानने में उतनी समस्या नहीं थी, जितनी शिल्प के

उपकरणों को समाज सापेक्ष मानने में थी। चरित्र, भाषा, मिथक, भंगिमा-शिल्प के जितने उपकरण हैं वे रचनाकार के अनुभव का हिस्सा हैं। यानी, उसके जगतज्ञान और ज्ञानजगत का, उसके चिंतन- मनन, कल्पना-अनुभूति का मिला-जुला परिणाम। कला का सामर्थ्य इन सबकी समृद्धि और परस्परता पर निर्भर है। इस पर अलग से बहस करने की जरूरत शायद नहीं है कि अनुभव के विभिन्न घटक समाज और इतिहास की वर्तमान अवस्था में रचनाकार की स्थिति से जन्म लेते हैं।

कला के माध्यम का, उस माध्यम के भीतर शैली का और उस शैली के भीतर रचना के शिल्प का चुनाव अनुभव की प्रकृति पर ही निर्भर है। आदिमानव के गुफाचित्र और धूसर-स्वप्निल रंगों की रोमांटिक चित्रकला दोनों दो बिलकुल भिन्न दुनिया का परिचय देते हैं। 'विशुद्ध रूप' का उदाहरण प्रतीत होनेवाले गुफाचित्र, जैसा क्लाइव बेल कहते है, वास्तव में रूपरचना का परिणाम न होकर सीमित साधनोंवाले आदिम मनुष्य के जीवन-संघर्ष से उत्पन्न स्वप्न-चित्र हैं। उनमें प्रकृति पर निर्भर जीवन जीनेवाले मनुष्य की सीमाएँ उस प्रकृति से उसका संघर्ष, उस पर प्रकृति का आधिपत्य और प्रकृति को अधीन बनाने की उसकी काल्पनिक प्रक्रियाएँ बड़े सजीव रूप में अंकित हैं।

परवर्ती मनुष्य आदिम अनुभव के उन रूपों का उपयोग एक स्मृति के तौर पर जरूर करता है लेकिन वह उन अनुभवों का भोक्ता नहीं है इसलिए वैसे रूपों को खुद जन्म नहीं दे सकता। उनसे अलग, रोमांटिक युग की चित्रकला एक गंभीर भावात्मक वायुमंडल बनाती है, जिसमें यथार्थ जीवन कुछ कोहरे में रहता है, उस पर कल्पना का रंग दिखता है। भव्य रोमांटिक चित्रों से पिकासो के चित्रों की तुलना की जाय तो केवल 'शैली' का नहीं, उसमें निहित अनुभव-वस्तु का फर्क भी स्पष्ट होगा। इससे पता चलता है कि शिल्प का उत्स ही सामाजिक- ऐतिहासिक नहीं होता, उसका प्रभाव भी ऐतिहासिक और भावात्मक होता है। इससे अलग सौंदर्यात्मक प्रभाव कोई रहस्यमय वस्तु नहीं है। यों भी, बाजारवाद एक तरफ. सारी पवित्रता, रहस्यमयता को नफा-नुकसान के तराजू में रखकर बिकाऊ माल बना देता है और दूसरी तरफ भय, आशंका को नये रहस्यवाद और चमत्कारवाद में बदलकर अनिश्चय का मनोविज्ञान उत्पन्न करता है।

प्रगतिशील साहित्य के बाद समकालीन स्त्री - साहित्य, विशेषत : दलित साहित्य ने शिल्प और सौंदर्य?

के प्रचलित मानदंडों पर बहस खड़ी की है। उसका शिल्प पूर्ववर्ती लेखन से अलग है। उसके शिल्प का स्रोत अनुभव की प्रकृति, विषयवस्तु के स्वरूप और रचना के उद्देश्य में निहित है। वह शिल्प- रचना के सामाजिक पहलू का सशक्त उदाहरण है। वैदिक कल्पना से दलित अभिव्यक्ति तक समाज के सुदीर्घ इतिहास की एक अंतर्यात्रा शिल्प के आधार पर भी हो सकती है। भक्ति का शिल्प किसी समय बहुत छोटा माना गया होगा। दरबारी साहित्य की तुलना में वह कुछ नहीं था। कलाचातुरी और भावविभोरता का अंतर बहुत बड़ा था। आज वही भक्ति काव्य उत्कृष्ट शिल्प का उदाहरण है। 'शिल्प और समाज' में इसी दृष्टिकोण से सामग्री का चुनाव किया गया है।

शिल्प के माध्यम से समाज को देखना उतना ही जरूरी है, जितना समाज के नजरिए से शिल्प को देखना। यदि शिल्प स्वयं में साध्य नहीं हैं तो यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि कला को नयी अंतर्वस्तु समाज और इतिहास से मिलती है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक शक्तियों की गतिशीलता. विभिन्न शक्तियों का परस्पर संबंध, उन शक्तियों में टकराव और संतुलन, परिवर्तन लाने और परिवर्तन रोकने के प्रयत्न, ऐसे अनेक कारक हैं, जिनसे किसी भी दौर की अंतर्वस्तु निर्मित होती है। हमारे चाहे-अनचाहे कलात्मक रूपों में वह अंतर्वस्तु अभिव्यक्त होती है। समाज में हमारी स्थिति, वर्तमान संबंधों के प्रति हमारा स्वीकार या अस्वीकार, अतीत और भविष्य के प्रति हमारा रुख यह तय करता है कि समसामयिक अंतर्वस्तु के प्रति हमारा दृष्टिकोण कैसा होगा। इसलिए पुस्तक में युवापन, लोकतंत्र, जनसमाज, बाजारवाद, दलित, अल्पसंख्य, न्याय- चेतना जैसी विभिन्न अवधारणा के संदर्भ में रचना और उसके शिल्प की समस्या को परखने का यत्न किया गया है।

उत्तर-सोवियत विश्व में साम्राज्यवाद के प्रति इतना खुला और बेझिझक समर्थन व्यक्त हो रहा है जिसकी पहले कल्पना नहीं की जा सकती थी। लेकिन दुनिया के अंतर्विरोध कम नहीं हुए हैं। न्याय और विवेक के स्वर भी नये रूपों में अभिव्यक्त हो रहे हैं। इन स्वरों को रेखांकित करना और उनका समर्थन करना इस पुस्तक का उद्देश्य है। इसलिए प्रत्यक्षत: विवादों से दूर रहते हुए भी यह पुस्तक वैचारिक संघर्ष में एक पक्ष की भूमिका अदा करती है। यह पक्ष इतिहास की गति को समझकर चुना गया है। समाज के जनतांत्रिक रूपांतरण और पुनर्गठन के लिए यदि इस विचार-विमर्श से थोड़ी भी उत्तेजना मिलेगी तो मैं अपना प्रयत्न सार्थक समझूँगा।

पुस्तक वामपंथी आलोचक श्री चन्द्रबली सिंह को समर्पित है। उनके साथ कई दशकों का संपर्क रहा।

विशेषत: जनवादी साहित्यांदोलन के निर्माण और बिखराव का पूरा दौर साथ-साथ देखा गया। वामपंथी आंदोलन में गुटबंदी और अवसरवाद ने केवल संगठनों को निष्प्रभावी और निस्तेज नहीं बनाया, पूरे आंदोलन को पस्त किया है। चन्द्रबली जी इन प्रवृत्तियों के विरुद्ध लड़नेवाले योद्धा थे। उन्हें अपमान के घूँट भी पीने पड़े लेकिन उनकी निष्ठा में कमी नहीं आती, मई 2010 में जब पुस्तकें तैयार की गयी थी, तब वे हमारे बीच थे। फरवरी 2014 में पुस्तक के प्रकाशन के समय वे स्मृति-शेष हैं। काश उनके सामने इसका प्रकाशन हो पाता!

नयी दिल्ली, 25 मई 2014 **अजय तिवारी**

समकालीनता और साहित्य

साहित्य का स्वप्न और गति

युवाओं की एक संस्था ने जब परिसंवाद के लिए 'साहित्य का स्वप्न और गति' विषय सुझाया तो पहली प्रतिक्रिया हुई कि यह काफी अमूर्त विषय है। अमूर्त है इसलिए दार्शनिक भी कह सकते हैं। लेकिन अमूर्त है इसलिए उसकी सीमाएँ अनिश्चित हैं। सोचने के लिए बेहद्दी मैदान है जिसमें आप भटक सकते हैं। बिखर सकते हैं। अपने अनुसार छोटा या बड़ा दायरा बना सकते हैं। गरज यह कि कुछ भी कर सकते हैं...।

जाहिर है, शुरुआत करना भी काफी उलझन भरा है। आप आदिकवि वाल्मीकि के 'मा निषात् प्रतिष्ठाम्..' से भी शुरू कर सकते हैं और बीजिंग ओलम्पिक में दिये गये नारे से भी-'एक विश्व एक स्वप्न'। और दोनों से शुरू करने पर आप दो रास्तों से शायद एक ही जगह पहुँचेंगे कि साहित्य का स्वप्न, दूसरे सपनों से अलग, संसार के साथ रचनाकार के निजी-विशिष्ट संबंध से जन्म लेता है। इसलिए वह नाना रूप, नाना रंग में व्यक्त होता है। वह इतना 'एक' (एकरूप या इकहरा) नहीं होता जितना राजनीतिज्ञों और व्यवसायियों का स्वप्न होता है। इसलिए बीजिंग ओलम्पिक का नारा वास्तव में खेल का स्वप्न उतना नहीं है, जितना खेल की राजनीति या राजनीति का खेल है। खेल के स्वप्न से साहित्य का स्वप्न तो मिल भी सकता है क्योंकि दोनों में मनुष्य की सर्जनात्मकता और कौशल का संयोग होता है लेकिन राजनीति के स्वप्न से साहित्य के स्वप्न का तालमेल सामान्यत: नहीं होता।

आदिकवि की सहज अभिव्यक्ति यह बताने के लिए काफी है कि साहित्य का स्वप्न रचनाकार के जिस भावजगत में आकार लेता है, उसमें जीवन का दृश्य यथावत् नहीं रहता। यही मूल बीज है जो साहित्य के स्वप्न को राजनीति के स्वप्न से अलग करती है। राजनीति तत्त्वत: पक्षधर होते हुए भी प्रकटत: तटस्थ दिखने के लिए विवश होती है क्योंकि उसे समाज-संगठन का संचालन करना होता है। साहित्यकार के लिए ऐसी विवशता नहीं है। क्रौंच-वध की घटना ने 'शोक' को 'श्लोक' बनाया। शोक घटना को तटस्थ वर्णन नहीं रहने देता। कवि राजनीतिज्ञ की भांति शोक 'प्रकट' करके शान्त नहीं हो सकता। वह शोक अनुभव करता है क्योंकि अनुभव के बिना वह रचना कर ही नहीं सकता। शोक भाव की वस्तु है। वह रचनाकार के अंतर्जगत को क्षुब्ध करता है। क्षोभ घटना को स्वप्न में बदलता है। मानी, हू-ब-हू नहीं रहने देता। वह जाँच आयोग बिठाकर सचाई पता करने का काम स्थगित नहीं

करता। वह अपना निर्णय देता है; उसकी सचाई उसके भावजगत से निश्चित होती है।

इसलिए चाहे वर्तमान संदर्भ से विचार करें या प्राचीन संदर्भ से, स्वप्न के बिना साहित्य पर बात नहीं हो सकती। यथार्थवादी साहित्य हो, तो भी। विशेषकर कविता तो मूलत: भाव और स्वप्न से ही संबंध रखती है। यथार्थवाद का विकास एक साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में कथा-साहित्य, उपन्यास के साथ हुआ था। जिन दिनों रूस में 'पेरेस्त्रोइका' शुरू हुआ था, उन दिनों हिंदी के कई महत्त्वपूर्ण प्रगतिशील और जनवादी कवि कविता से यथार्थवाद ही नहीं, यथार्थ को भी बहिष्कृत करके स्वप्न की महत्ता प्रतिपादित करने लगे थे।

स्वभावत: समस्या स्वप्न से कविता या साहित्य के संबंध को लेकर नहीं है। समस्या तब है, जब साहित्य उन लोगों तक संप्रेषित नहीं होता जिनके जीवन से प्रेरित या संवेदित होता है या जिन्हें संबोधित होता है। यानी 'स्वप्न' के बजाय 'गति' (दिशा, संप्रेष्य) का सवाल अधिक समस्यामूलक है.। 'स्वान्त: सुखाय' लिखनेवालों के लिए गति का प्रश्न नहीं है; वहाँ रचना अपारदर्शी है, उसका अपना अस्तित्व ही पर्याप्त है, किसी के समझने की जरूरत ही नहीं है। लेकिन भवभूति को बहुत पहले यह चिन्ता हुई थी, 'कोऽपि समानधर्मा'। शायद उन्होंने अपने मन को समझाया था कि आज न सही, भविष्य में कोई समानधर्मा (हमखयाल) होगा, जो मेरा साहित्य समझेगा। साहित्य दूसरों तक कब पहुँचेगा, यह तय नुहीं -था, लेकिन पहुँचेगा, यह भरोसा था।

इस दृष्टि से देखें तो 'मा निषात् प्रतिष्ठात्.....' के स्वप्न से 'कोऽपि समानधर्मा...' की गति तक साहित्य की प्रक्रिया पर विचार के कई दिलचस्प बिन्दु उभरते हैं। बाल्मीकि अगर घटना के प्रति तटस्थ या संतुष्ट होते, उन्हें दु:ख या क्षोभ न होता तो शोक कभी श्लोक न बनता। इस बात को यों भी कह सकते हैं कि ब्रह्मा की बनायी दुनिया से जो संतुष्ट रहता है, उसे कल्पना में एक और दुनिया बनाने की जरूरत नहीं होती।

दूसरे शब्दों में, कविता का स्वप्न जीवन के असंतोष से पैदा होता है। कबीर संतई के आदर्श के लिए कहते होंगे, 'जब आवै संतोषु धन, सब धन धूरि समान।' लेकिन कविता का आदर्श तो उनके लिए भी दूसरा था। वहाँ वे जीवन के पाखंड पर, विषमता पर, कर्मकांड, अंधविश्वास, जातिवाद पर, सांप्रदायिक संकीर्णता और विद्वेष पर जोरदार आक्रमण करते हैं। वे अपने सामने मौजूद पंडितों-मुल्लों-योगियों को संतुष्ट होने के कारण गालियाँ नहीं देते थे। तुलसीदास को कबीर का विरोधी माना जाता है। लेकिन कबीर की तरह ये भी व्यंग्य करते थे, 'पंडित